**International Journal of Advanced Research and Development**
**ISSN: 2455-4030**
**Impact Factor: RJIF 5.24**
**www.advancedjournal.com**
**Volume 3; Issue 2; March 2018; Page No. 966-968**

# हिंदी दलित उपन्यासों में समुचित शिक्षा प्राप्ति हेतु संघर्ष

**दीपक**
15/333 भगत सिंह कालोनी, बरनाला रोड, सिरसा, हरियाणा, भारत।

**प्रस्तावना**

दलितों के अन्याय, अपमान, उत्पीड़न और अभाव के पीछे उनकी जाति के बाद प्रमुख कारण उनका अशिक्षित होना रहा है। अशिक्षित होने के कारण दलित न तो अपने विरूद्ध ब्राम्हणों द्वारा रचे गए शास्त्रीय विधानों को ठीक से समझ सके और न उनका प्रतिकार कर सके। बल्कि इसके विपरीत वे इस शास्त्र सम्मत शोषण को अपनी नीयति मानते रहे। शिक्षा के बिना मनुष्य चार पैरों वाला जानवर ही बनकर रह जाता है और यही दलितों के साथ भी हुआ। सदियों तक वे एक पशु से भी बदतर चेतनाहीन जीवन जीते रहे। लेकिन भारतीय समाज–सुधारक के आंदोलनों ने उनमें शिक्षा के प्रति सजगता लाई। बदलते वक्त ने धीरे–धीरे दलितों को अहसास दिलाया कि जीवन के लिए शिक्षा अति आवश्यक है और इसी अहसास के कारण वे समाज का विरोध सहकर भी शिक्षित होने की ओर अग्रसर हुए।

आर्थिक व सामाजिक शोषण के वर्णवादी तंत्र से मुक्ति के लिए शिक्षा एक अनिवार्य पहलू है लेकिन ढांचा कितना विकृत है इसका प्रमाण उपन्यासों में साफ देखने को मिलता है। 'वीरांगना झलकारी बाई' उपन्यास में लेखक इस तथ्य की वास्तविकता बताते हुए कहते हैं कि – ''शिक्षा बहुत ही खास परिवारों के लिए सुरक्षित थी। आम आदमी का शिक्षा से कोई लेना–देना नहीं था।'' [1] आर्थिक तंगी के कारण स्कूलों में दाखिला लेने के स्थान पर बच्चे माँ–बा पके साथ रोजी–रोटी कमाना उचित मानते हैं। किसी तरह कुछ बच्चे स्कूलों में दाखिला ले लेते हैं तो उनके साथ जाति के नाम पर भेदभाव किया जाता है। दलित छात्रों व छात्राओं को कमरे के बाहर या सबसे पीछे बैठाना, अध्यापक द्वारा उनकी तख्ती, कापी आदि को न छूना, जातिसूचक शब्दों से संबोधित करना ये सब साधारण बातें मानी जाती है। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में जब राणा शिक्षा–ग्रहण करने के लिए स्कूल में जाता है तो उसे किस तरह शिक्षकों के गुस्से का शिकार होना पड़ता है। इस प्रसंग का उल्लेख इन शब्दों में हुआ है – ''वह आधे दिन स्कूल की चौहद्दी के बाहर मुर्गा बन खड़ा रहा। मास्टरजी ने संतोष के साथ कहा था – स्कूल में घुस ही आया है तो सजा भुगत.....।'' [2]

शिक्षा के क्षेत्र में भी छुआछूत का भूत किस तरह विद्यमान है यह 'परिशिष्ट' उपन्यास मे देखने को मिलता है। इसमें बावनराम भी इसी व्यवस्था का भुक्तभोगी है – ''कैसे–कैसे फूट–फूटकर रोते थे। स्कूल में अलग टाट पर बैठाया जाता था। जब सब बच्चे पानी पी लेते थे तब हमारा नम्बर आता था। बापू यही कहते थे, जब पढ़–लिख लोगे तभी इस पाप से छुट्टी पाओगे। नहीं तो इसी नरक में घिसटते रहोगे।'' [3] पूरे देश में अछूतों के प्रति यही रवैया अपनाया जाता था। यह स्वर्णों की स्वार्थी और संकुचित मानसिकता ही रही कि वे दलितों को अपनी गुलामी से आजाद नहीं करना चाहते थे और वे शिक्षा के सामर्थ्य को भी जानते थे इसीलिए वे दलितों के शिक्षित होने के खिलाफ थे। 'मुक्तिपर्व' उपन्यास में भी समाज के तथाकथित ठेकेदार, दलित करतार को झिड़की देते हैं – ''तेरा बच्चा पढ़ जाग्गा तो फिर झाड़ू कौन लगाएगा इस स्कूल में.... .....'' [4] लेकिन बंसी उनकी स्वार्थी मानसिकता को उजागर करते हुए कहता है – ''स्वर्ण कभी नहीं चाहते कि हमारे बच्चे पढ़ें–लिखें, क्योंकि अगर वे पढ़–लिख गए तो उन्हें गुलामों की फौज कहाँ से मिलेगी। उनकी सेवा–टहल फिर कौन करेगा उनके जानवरों को चारा कौन खिलाएगा, पानी कौन पिलाएगा। उनके बदन की मालिश कौन करेगा।'' [5]

'मोरी की ईंट' उपन्यास के चौधरियों का भी यही मानना है कि – ''भगवान ने जिस बिरादरी में जनम दिया है आदमी को उसी बिरादरी का धरम निभाना चाहिए। पढ़ना–पढ़ाना काम ठहरा बाम्हन–पंडितों का, मेहतर–भंगी भी पोथी बांचने बैठ जायेंगे तो दुनिया का काम कैसे चलेगा!''[6]

'हजार घोड़ों का सवार' उपन्यास की छोटकी के मास्टरजी भी यही कहते हैं – ''पढ़कर क्या करोगे ? चमार हो तो जूते बनाना सीखो। फिर उसने हमें बताया कि पढ़ोगे–लिखोगे तो होओगे खराब, खेलोगे–कूदोगे तो बनोगे नवाब''[7] बदलते समय के साथ अब दलितों में भी शिक्षा के प्रति सजगता धीरे–धीरे आ रही है। बुद्धि और विवेक केवल ऊँची जातियों के लिए ही नहीं बनाये गय इस बात की पुष्टि 'चतुरंग' उपन्यास में प्रधानाध्यापक तब करते हैं जब एक निचजी जाति के छात्र को सर्वाधिक अंक मिलते हैं और इसके लिए स्वर्णों द्वारा प्रधानाध्यापक की पंचायत में पेशी होती है तब वे कहते हैं – ''बुद्धिमानी ऊँची जातियों की बपौती नहीं है, श्रीमान, वरना अम्बेदकर जैसे विद्वान नहीं होते। जिसे ईश्वर ने कुशाग्र बुद्धि दी है उसे तो आगे बढ़ना ही है।''[8] ईश्वर ने सभी को समान बुद्धि और विवेक दिया है यह तो मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिए वर्ण व्यवस्था बनाई तथा दलितों को शिक्षा से वंचित किया।

अशिक्षित होने के कारण ही दलित अपने परंपरागत पेशे में सीमित रहने के लिए बाध्य है तथा अपनी वर्तमान स्थितियों का विश्लेषण करने में असमर्थ है, ये बात 'परिशिष्ट' उपन्यास के बावनराम जानते हैं इसीलिए बावनराम निश्चित करते हैं कि वह किसी भी तरह अपने बेटे को पढ़ाकर ही रहेंगे, समाज की इस जूठन में वह अपने बेटे अनुकूल को पड़े नहीं रहने देंगे, वे कहते हैं – ''अगर फैक्ट्री में मैं न आ गया होता तो वही खानदानी काम करते और ऊँची जात के लोगों की दुर–दुर, पर–पर सुनते। यहाँ आ गये तो सुपरवाइजरी तक पहुँच गये। देखता हूँ कैसे ये लोग उसे आगे बढ़ने से रोकते हैं। चाहे सब कुछ बिक जाय पर लड़के को मंजिल तक पहुँचाकर मानूँगा। मर भी गया तो भी इतना इन्तजाम कर जाऊँगा कि अनुकूल को पढ़ाई में दिक्कत न हो .....।''[9]

यही चेतना 'छप्पर' उपन्यास के सुक्खा और रमिया में भी है। अपने बेटे की शिक्षा के माध्यम से वे एक सुखद भविष्य की कल्पना करते हैं – ''चुप रह पगली कोई पेट से बड़ा बनकर आता है। पढ़–लिखकर बड़े बनते हैं सब। क्या पता कल को हमारा चन्दन

भी कलट्टर या दरोगा बन जाए। अपनी चिन्ता छोड़ हमें थोड़े बहुत दुःख उठाने पड़ रहे हैं तो क्या ? दुःख के बाद ही सुख आता है। हमारे दिन भी कभी न कभी बहुरेंगे।'' [10]

'अल्मा कबूतरी' उपन्यास की कदमबाई भी राणा को पढ़ाना चाहती है वह राणा को कज्जा लोगों की नौकरी के बदले अपने पैरों पर खड़े होने के लिए तैयार करती है। कदम कज्जा लोगों के मनसूबे से परिचित है फिर भी वह उनसे टक्कर लेती है – ''.....कज्जा लोग समझते है कि सीधी गैल कबूतराओं के लिए नहीं, झरियों–बिरियों, ठूँठ–काटों, कंकड–पत्थरोंवाली, ऊबड़–खाबड़ धरती छोड दी तो बहुत किया। इनके बच्चे कज्जा बालकों की तरह का कुछ सीख न लें। सीख जाएँगे तो अपनी भद्दी बोली भूल जाएँगे।''[11]

कई बार दलित स्वयं भी शिक्षा के प्रति उदासीन हो जाते हैं और तब वे अपनी जाति भाइयों का भी ध्यान वहाँ से हटाने की कोशिश करते हैं। कई दलित, शिक्षा को सवर्णों की बपौती मानते हैं। यही हाल 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास के दूलन का भी है वह कागजों पर थूंकता है और राणा से कहता है– ''राणा, तू कागदों से खेलने को पैदा हुआ है! ये बहकानेवाली चीजें हैं। जिंदगी भर भटकेगा।'' [12]

छात्र होनहार हो, मेधावी हो पर जाति के सामने इस सबका क्या मूल्य! दलित छात्र कितना ही होनहार, मेधावी हो, योग्य–अयोग्य साबित करना तो सवर्णों के हाथों में होता है। शैक्षणिक संस्थाओं में दलित छात्रों के सामने ऐसा वातावरण तैयार किया जाता है कि या तो वे तंग आकर पढ़ाई छोड़ देते हैं या फिर आत्महत्या की शरण में चले जाते हैं। 'परिशिष्ट' उपन्यास में रामउजागर नाम का युवक भी इसी जाति की पीड़ा से त्रस्त है। वह इसका शिकार हो जाता है परन्तु वह दूसरों को समझाने की पूरी कोशिश करता है कि पढ़ाई करने से ही दलित वर्ग का विकास हो सकता है। वह कहता है – ''सबसे कहो पढ़ाई करें, यही बात बार–बार कहो। इस गटर से हम लोगों को पढ़ाई ही निकाल सकती है।'' [13] अंत में रामउजागर छोटी–बड़ी जात के फेरे में फँसकर आत्महत्या कर लेता है। जो माता–पिता इस उम्मीद से जी रहे थे कि एक दिन रामउजागर पढ़कर हमें इस भूख और गरीबी के नरक से उबार लेगा लेकिन अचानक वह लुप्त हो जाता है। राम उजागर के पिता कहते हैं – ''मैं अपना बयान देता हूँ ..... मेरे बेटे को बड़े–बड़े घरों और ऊँची जात के लड़कों और मास्टरों ने मरने के लिए मजबूर कर दिया। .....कभी–कभी यही लगता है कि गाँधी, बाबा न आये होते तो अच्छा था। उन्होंने ही हमें सोते से जगा दिया ..... ... आशाएँ बढ़ा दी .....नफरत और दमन ने अब यह रूप ले लिया।'' [14] इस प्रकार 'परिशिष्ट' उपन्यास में शिक्षण संस्थाओं में दलित समाज की वास्तविक स्थिति की ओर संकेत किया गया है। अंत में दलित वर्ग के लोग अपनी जान देकर जाति के जंजाल से छुटकारा पा लेते हैं। मोहन..... रामउजागर इसी कड़ी की शृंख्ला हैं।

शिक्षा के प्रति दलितों में आयी चेतना ने उनके मूक विरोध को आवाज दी 'शैलूष' उपन्यास की रूपा में यही स्वर उभरकर आया है – ''मारकर तोड़ दूंगी तेरा हाथ स्साला, तू क्या समझता है कि नट–नटुल्ली जिंगदी भर अनपढ़ और अंधेरे में ही सड़ते रहेंगे ? क्या उनकी जिंदगानी में कभी रोशनी आयेगी ही नहीं ?'' [15]

शिक्षा जो मनुष्य को ईश्वर द्वारा दिया गया वरदान है और ज्ञान शिक्षा का हासिल है, उसी के माध्यम से वह अपने आपको पशुओं से अलग पाता है। इसी शिक्षा ने दलितों को भी मनुष्य का स्तर देने में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। शिक्षा ने ही उन्हें शोषण की दलदल से, अत्याचार की भयानक, गहरी गुफाओं से बाहर निकाला और एक सुनहरे भविष्य के सपने दिए।

भारतीय समाज में धर्म का स्थान सर्वोपरि है। यहाँ तक कि वर्णव्यवस्था का स्वरूप हमारे धर्मग्रन्थों से ही लिया गया है अतः जिस वर्णव्यवस्था के कारण सवर्ण और दलित जातियों का भेद उत्पन्न हुआ तब यह बेहर स्वाभाविक था कि दोनों के लिए धर्म संबंधी अलग–अलग नियम बने। इसी कारण दलितों का अपना अलग धर्म और संस्कृति बनी।

धर्म का आधार श्रद्धा और विश्वास होता है। चूँकि दलित अशिक्षित थे, धर्मग्रन्थों से अपरिचित थे। मंदिरों में जाने की मनाही थी। अतः उन्होंने अपने मनमाने विश्वासों को ही धर्म समझ लिया जो वास्तव में अंधविश्वास थे। सवर्णों की देखा–देखी वे पत्थर पूजने लगे और पुजारियों की तरह इनके भगत दूसरों की श्रद्धा और विश्वास के साथ खिलवाड़ करने लगे। जब भी कोई दलित व्यक्ति बीमार होता तब उसके इलाज को छोड़कर लोग भगत के पास पहुँच जाते और वह झाड़फूँक करके रोगी को ठीक करने का आडम्बर रचता। ऐसे उपायों और इलाज के अभाव में जब रोगी मर जाता तब उसे भी ईश्वर का कोप समझा जाता था फिर भूत–प्रेत का चक्कर। यह चक्रव्यूह यहीं समाप्त नहीं होता बल्कि किसी ऐसे व्यक्ति को दोषी बनाकर सजा दी जाती जो या तो रोगी या फिर भक्त का दुश्मन होता।

'हजार घोड़ों का सवार' उपन्यास में ओझाजी के पैसा मंतरने से रोगी का बुखार चले जाता है – ''.....जस्सूसर दरवाजे के बाहर कोई ओझाजी रहते हैं। वे बुखार उतारने के लिए पैसा मंतर के देते हैं। उस पैसे को बाजू पर बाँधने पर बुखार छूमंतर हो जाता है।''[16]

भगत, ओझा तथा गुनियाँ लोग रोगी और उसके परिवार वालों को पूरा विश्वास दिलाते हैं कि देवता उनकी पूजा कबूल करके रोगी का रोग दूर कर देते हैं। देवताओं को खुश करने के लिए वे अलग–अलग सामग्री के साथ जीव की बलि तथा मंत्रोच्चार करते हैं। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास का राणा जब बीमार होता है तो गुनियाँ द्वारा भी उपर्युक्त प्रयत्न किये जाते हैं – ''वीरदेव की स्थापना की। लिपी हुई चबूतरी पर बेर के पत्ते, पान का पत्ता, गुड़ और बकरी का खून चढ़ाया। रोटी का चूरमा और लाल कपड़ा। मद और तेल पास में रखा। .....गुनियाँ लोग लहकाता जाता, खून के छींटे देता जाता। .....कागजी आदमी, डेढ़ पसली की गुनियाँ। देवता आ गया उसके ऊपर। बलवान पहलवान की तरह पुख्तापन से तन गया। मंत्र पढ़ने लगा –– हंहंहंहं वीरदेवता तोरी असवारी हंहंहंहं बड़े पिशाच तोरी असवारी हंहंहंहं कुनबी की संतान तोरी असवारी..... ।''[17]

ऐसा ही एक प्रसंग शैलूष उपन्यास में आया है जब गोवरधन भइया का बेटा बीमार होता है तो उसके इलाज के लिए, मरी–मसान की पूजा के लिए अनेक सामग्री के साथ जीव की बलि दी जाती है – ''पूजा में घी का दीपक, रोली, अक्षत, कुमकुम नहीं था यानी पूजा का जो मतलब बड़े लोग समझते हैं, वह उससे बिलकुल अलग तरह की पूजा थी। सामानों में सेंदुर, काला रंगा हुआ चावल, कनइल का फूल, तीन बोतल महुवे की शराब, ढकनी पर कडुवा तेल, मारकीन के लंबे टुकड़े पर डीह, गोरया की पूजा का सामान क्योंकि यह तो स्थान देवता थे।''[18] ''.....एक कागज पर गरीबू ओझा पंद्रह चक्र बनाकर लाये थे। मुर्गे की गरदन उड़ा दी गयी। खून की पतली धार से गोरया का चबूतरा भींज गया। उन्होंने आग में लोहबान डाला''[19] ''जाग रे बीर, कब तक सूतल रहवे, रच्छा कर, ले अपन–अपन पूजा, दिल खोल के, सरेशाम को लील ले रे महावीर, चबा जा स्साली मरी को, खबरदार, ई लौट के आवे न पावे ..... लो भइया यह कागज रोगी के बांह में काले कपड़े में रखकर ठीक से लपेट दो।'' [20]

ये परंपराएँ उनके समाज में बरसों से चली आ रही हैं। तावीज,

राख, भभूत आदि में उनकी पूरी आस्था और विश्वास रहता था। 'मुक्तिपर्व' उपन्यास में सुनीत को ये सभी चीजें दी जाती हैं ताकि किसी बुरी नजर या बला से उसकी रक्षा हो सके – ''..... कभी कोई मुर्दे की हड्डी के छोटे से टुकड़े को तावीज बनाकर सुंदरी को दे जाती। कोई काले धागे का हार बट कर उसे पहना देती तो कोई किसी फकीर मौलवी से राख या भभूत ले आती .....।'' [21]

'जस तस भई सवेर' का हँसा अपनी सामाजिक परंपराओं, मान्यताओं से बहुत जुड़ा है। देवी–देवताओं और भक्त–पुजारियों में उसकी असीम श्रद्धा और विश्वास है। अन्धविश्वास से व्यक्ति मूर्ख बनता है और यही मूर्खता उसके सहज शोषण का कारण बनती है। बड़े देवता जाहरवीर की जात अर्थात् पूजा–अर्चना करता है। इस जात में पहली बार 5000 रुपये तथा दूसरी बार दस हजार रुपये खर्च होते हैं। लेकिन इतना खर्च करने के बाद भी हंसा को इसका कोई फायदा नहीं होता है। भगत के मुँह से जिस दिन हँसा इस पूजा–अर्चना की असलियत जानता है उस दिन उसे बड़ा आघात लगता है – ''असल बात तो तुम भी जानते हो कि ये देवता वगैरह कुछ नहीं है भैया। सब खाली पड़े बिना कमाये मौज मारने का तरीका है। शैतान–वैतान को मैं नहीं जानता। किसी भूत–प्रेत, जिन–विन को नहीं जानता। न मैं यह जानता हूँ कि ये हैं भी या नहीं ..... लोगों का अज्ञान, अन्धविश्वास और देवता एवम् शैतान का छलावा ही हमारी ताकत है। भैया, भगवान और शैतान के छलावे के डर से ही हम जैसे अकलमन्द इन्सान की ताकत हमेशा बड़ी होती है। अब देखो सारे गाँव के हाथ–पाँव जाड़े में ईंख छोलते–छोलते फट जाते हैं। मेरे हाथ–पाँव हमेशा चिकने मिलेंगे। मैं काम करता ही नहीं, हवन करते समय ही घी हाथ–पाँवों में ठीक से मल लेता हूँ। लोग साले खाने को तरसते हैं, यहाँ असली घी देवता के प्रसाद में आ जाता है। मेरा पेट हमेशा नाक तक भरा रहता है। सारा गाँव मुझे पूजता है।'' [22]

समय परिवर्तन के साथ जब दलित शिक्षित हुए। उनमें जागृति आई तब वे अपने अंधविश्वासों से उभरने लगे और साथ–ही हिंदू धर्म का भी आकलन करने लगे। 'मुक्तिपर्व' उपन्यास में रामलाल हिन्दू धर्म के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहता है – ''हिन्दू धर्म बाहर से जितना शांतिप्रिय दिखाई देता है भीतर से उतना ही खौफनाक भी है। बेहतर होगा सजग रह कर कुछ सीखो, पर मानवीयता मत छोड़ो।'' [23]

सवर्णों के लिए जनेऊ पहनना सामाजिक और श्रेष्ठता का प्रतीक था। जनेऊ हिन्दू धर्म के अनुसार पहनना चाहिए परन्तु जब शूद्रों ने भी जनेऊ पहनना शुरू कर दिया तो सवर्ण समाज में हडकम्प मच गयी। 'वीरांगना झलकारी बाई' उपन्यास में जब शूद्रों ने जनेऊ पहनना शुरू किया तो उन्हें बेइज्जत किया गया। राजा का आदेश था – ''शूद्रों को जनेऊ मत पहनने दो। अगर पहने तो उनके जनेऊ तोड़कर फेंक दिए जाएँ। साथ ही दूसरा आदेश भी था। वह यह कि तांबे और लोहे के जनेऊ आग में लाल कर उन्हें पहनाएँ जाएँ .....।'' [24]

इस तरह के अत्याचार और अन्याय दलितों पर पहले से होते आ रहे हैं। परन्तु समय के साथ दलितों में भी परिवर्तन आ रहे हैं। 'मुक्तिपर्व' उपन्यास का सुनीत धर्म के इस रूप को देखकर उसके भीतर अजीब सी कश्मकश पैदा हो गयी थी। वह सोचने पर मजबूर हो गया है कि मंदिर आखिर किसके लिए है ?

''क्या मंदिर उनके लिए नहीं है ?''
''तब मंदिर किसके लिए है ?''
''फिर मंदिरों का अस्तित्व ही क्या है ?''
''मंदिर कौन बनाता है ?'' [25]

'हजार घोड़ों का सवार' उपन्यास में लोगों का धर्म के प्रति देखने का जो दृष्टिकोण बदल रहा है उसे उपन्यासकार ने मेघू चमार के द्वारा व्यक्त किया है – ''.....धर्म मनुष्य, मनुष्य से प्रेम, सद्भाव, भाईचारा, जुड़ाव और ममता पैदा करता है। पर आज के सारे धर्म चाहे वह हिन्दू, इस्लाम, ईसाई और यहूदी क्यों न हों ..... सब आदमी–आदमी के बीच घृणा, अलगाव, दुराव और बैर पैदा कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में सारे धर्म मनुष्य के उद्धारक नहीं संहारक बन रहे हैं।'' [26]

## निष्कर्ष

कहा जा सकता है कि पीढ़ी दर पीढ़ी पंडितों का जो दबदबा दलितों पर था आज उसकी जंजीरें ढ़ीली होती नजर आ रही हैं, धर्म की बिसात उलट गई है। 'मुक्तिपर्व' इस उपन्यास में जब बंसी का बेटा होता है और उसके नामकरण संस्कार पर पंडितजी हमेशा की तरह वही घिसे–पिटे नाम सुझाते हैं तो बस्ती में इसका विरोध होता है – ''कालू, चेतू, भाना, बुद्धू, रगडू, .....झगडू, दगडू या फिर भगडू। बतलाओ न पण्डित जी, दलितों की जनम पत्तरी में कुछ और नाम बताओ। नाटू, मंगलू, सिरिया .....घुरिया, कुड़िआ, रमिया क्या यही नाम हमारे हिस्से में रहे हैं।'' [27] और बंसी अपने बेटे का नाम सुनित रखता है। इस तरह पंडित पहली बार सबके सामने बाजी हार जाता है।

## संदर्भ


1. मोहनदास नैमिशराय 'वीरांगना झलकारी बाई' पृ0 54
2. मैत्रेयी पुष्पा 'अल्मा कबूतरी' पृ0 81
3. गिरिराज किशोर 'परिशिष्ट' पृ0 91
4. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 97
5. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 77
6. मदन दीक्षित 'मोरी की ईंट' पृ0 152
7. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' 'हजार घोड़ों का सवार' पृ0 314
8. शैलेन्द्र सागर 'चतुरंग' पृ0 20
9. गिरिराज किशोर 'परिशिष्ट' पृ0 19
10. जयप्रकाश कर्दम 'छप्पर' पृ0 12–13
11. मैत्रेयी पुष्पा 'अल्मा कबूतरी' पृ0 18
12. मैत्रेयी पुष्पा 'अल्मा कबूतरी' पृ0 81
13. गिरिराज किशोर 'परिशिष्ट' पृ0 158
14. गिरिराज किशोर 'परिशिष्ट' पृ0 307
15. शिवप्रसाद सिंह 'शैलूष' पृ0 47
16. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' 'हजार घोड़ों का सवार' पृ0 12
17. मैत्रेयी पुष्पा 'अल्मा कबूतरी' पृ0 51
18. शिवप्रसाद सिंह 'शैलूष' पृ0 87
19. शिवप्रसाद सिंह 'शैलूष' पृ0 87
20. शिवप्रसाद सिंह 'शैलूष' पृ0 87
21. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 37
22. सत्यप्रकाश 'जस तस भई सवेर' पृ0 114–115
23. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 61
24. मोहनदास नैमिशराय 'वीरांगना झलकारी बाई' पृ0 37
25. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 111
26. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' 'हजार घोड़ों का सवार' पृ0 78
27. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 31